

शिक्षा एवं बहुसंस्कृतिवाद-II

क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल

अनुवाद : रमणीक मोहन

सामुदायिकतावाद

इस अध्याय में अब तक हमने उदारवादी लोकतंत्र की समकालीन सैद्धांतिक परिकल्पनाओं के भीतर शिक्षा के स्थान को जांचा है। हमने तर्क दिया है कि इस तरह की सैद्धांतिक परिकल्पनाएं उदारवादी शिक्षा के एक उपयुक्त वृत्तांत के लिए गुंजाइश छोड़ने में आम तौर पर जितना उदार होती हैं, उन्हें उससे अधिक खुला और उदार होना होगा। उदारवाद के कुछ आलोचकों की नजर में स्वतंत्रता, सवायत्तता और गुणवत्ता की वकालत उसे दर्शनशास्त्रीय एवं राजनीतिक तौर पर अस्पष्ट बना देती है। मैकइन्टायर, टेलर और सैण्डेल जैसे सामुदायिकतावादी सोचते हैं कि उदारवाद लोगों की कल्पना ऐसे पृथक, अलग-थलग व्यक्तियों के रूप में करता है, जो अपने क्षेत्र में, जिसे वे अच्छा मानते हैं, उसे देखते-पहचानते हुए अपने तरीके से पाने की कोशिश करते हैं यानी हर व्यक्ति अलग है, और जिसे वह अपने लिए अच्छा समझता है, उसका अपने तरीके से अनुसरण करता है। यद्यपि वे अपने-अपने समाजों में उपलब्ध रीतियों-रिवाजों-परम्पराओं और सांस्कृतिक मनों में से किसी को अपनी मर्जी से चुन सकते हैं, लेकिन यह चुनाव स्वयं में यह अर्थ नहीं देता कि उनमें से किसी भी चीज के साथ उनका पूर्व लगाव है। जो कुछ उपलब्ध है, उदारवादी स्वायत्त चुनावकर्ता उसी में से अच्छे को रचता है, लेकिन वह उस चुनाव तक बेरोक, अबाधित और स्पष्ट दृष्टि के साथ पहुंचता है। इस तरह की तस्वीर, सामुदायिकतावादियों के मुताबिक, बिल्कुल बेमानी है। लोग किसी मूल्य का चुनाव स्वतंत्र तौर पर नहीं करते। उनकी तो पहचान तक उन समुदायों द्वारा बनाई जाती है जिनमें वे जन्म लेते और बड़े होते हैं। इसीलिए मूल्यों और प्राथमिकताओं की उनकी समझ ऐसे समुदायों के संस्थागत ढांचों और उनके सदस्यों में पैदा किए गए गुणों एवं प्रवृत्तियों में जड़बद्ध होती है। अपने स्वत्व में गम्भीर रूप से कमी लाए बिना लोग समुदायों से असंबद्ध नहीं हो सकते यानी समुदाय से असंबद्ध होने का अर्थ है, अपने स्वत्व, अपने व्यक्तित्व में से कुछ घट जाना। अगर इस बात को ध्यान में रखें कि वे जो हैं, आंशिक तौर पर अपने समुदाय के सांस्कृतिक मापदण्डों और प्रथाओं से ही बने हैं, तो यह भी उन्हीं मापदण्डों और प्रथाओं से तय होगा कि वे किन विकल्पों को अपने लिए खुला मान सकते हैं और किन्हीं नहीं। अगर उदारवाद की इस तरह की आलोचना विश्वसनीय है, तो वह उदारवादी शिक्षा के हमारे संस्करण के लिए भी खतरनाक होगी, क्योंकि वह अपने पैतृक राजनैतिक सिद्धांत की ही तरह स्वायत्तता पर, तथा आत्म-प्रतिबद्धता के माध्यम से मूल्य के बनने पर, बल देता है।

लेकिन क्या इस तरह की आलोचनाएं विश्वसनीय हैं? इससे पहले कि हम इस सवाल से सीधा रू-ब-रू हों, बेहतर है कि हम सामुदायिकतावाद के अतिवाद वाले सैद्धांतिक संस्करण के सामाजिक और शैक्षिक निहितार्थों पर कुछ देर बात कर लें। ये निहितार्थ अत्यन्त रूढ़िवादी हैं - यहां तक कि बिल्कुल भी आकर्षित करने वाले

नहीं हैं। अगर एक समाज और उसके भीतर की शैक्षिक व्यवस्थाएं बस इतना भर करते हैं कि उस समाज में मौजूद समुदायों को उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं जिसमें वे हैं और इसलिए उन समुदायों के व्यक्तियों के मूल्यों को भी पूर्व निर्धारित मान लेते हैं, तो एक समाज यथास्थिति के लगातार बने रहने से अधिक कुछ की आशा नहीं कर सकता। या तो यह या फिर अराजकता। लेकिन व्यवहार में इसका अर्थ यह हो सकता है कि अगर इस तरह के समुदाय गहरे तक पैठ बनाए लिंगभेदी या नस्लवादी मूल्यों का मूर्त रूप हैं (जैसा कि वे हो ही सकते हैं) तो हम, इस मकसद से कि स्थिति और अधिक न बिगड़े, व्यापक समाज में इन मूल्यों के प्रसार की रोकथाम से संबद्ध कोई कानून ला सकते हैं। लेकिन स्वयं इन मूल्यों को हाथ तक लगाया जा सके, इसकी तो कोई तर्कसंगत आशा नहीं रखी जा सकती! बल्कि इस तरह का कानून भी ऐसे समुदाय के सदस्यों को तो समाज के भीतर प्रभुत्वशाली ताकतों द्वारा थोपे गए अजनबी मानदण्डों की तरह ही लगेगा। लेकिन अगर समुदायवादी सही हैं, तो इससे यह बात भी निकलती है कि क्योंकि शिक्षा स्वाभावतः मानकीय होती है, और क्योंकि उपलब्ध मापदण्ड केवल समुदायों में ही मिलते हैं, इसलिए एक तर्कसंगत शिक्षा नीति वही होगी जिसमें ये समुदाय अपनी शैक्षिक संस्थाओं के तौर-तरीकों और विषयवस्तु को नियंत्रित कर सकें। तो, मिसाल के तौर पर, संभव है कि हमारे सामने न केवल ऐसे समुदाय हों जिनके मूल्य बहुसंख्यक लोगों की नजर में घृणा के लायक हों, बल्कि राज्य से वित्तीय सहायता-प्राप्त सामुदायिक स्कूल भी हों जिन्हें जान-बूझ कर ऐसे मूल्यों को पोषित करने के लिए बनाया गया हो।

लेकिन क्या उदारवाद की समुदायवादी आलोचनाएं विश्वसनीय हैं? हमारे विचार में कई कारणों से ऐसा नहीं है। पहली बात तो यह कि समुदायवादियों में समुदायों की एकरसता पर अत्यधिक बल देने की प्रवृत्ति रहती है। साथ ही वे समुदायों और उनके आस-पास के लोगों के बीच परस्पर अंतर्क्रिया का, आवश्यकता से अधिक सरलीकरण करते हैं। ऐसे समुदाय हो तो सकते हैं, जैसे कि अमेरिका में ऐमिश समुदाय, जो एक ध्वनि में बोलते प्रतीत होते हों, और जिनका आस-पास के समुदायों के साथ संपर्क दुर्लभ ही हो, लेकिन इस तरह के समुदाय - हालांकि वे कुछ विशेष समस्याएं प्रस्तुत कर सकते हैं - आधुनिक राज्यों में एक सामान्य प्रतिमान नहीं हैं। सब समुदायों में (कुछ हद तक जटिल, पेचीदा समुदायों में भी) मूल्यों को लेकर कई तरह की राय होगी, और यह विविधता 'बाहरी' संसार के साथ उस समुदाय के सदस्यों के दिन-प्रतिदिन के संपर्क तथा आधुनिक दुनिया की संप्रेषण संबंधी जबरदस्त संभावनाओं से पोषित होगी। समुदायों के भीतर विचारों से संबद्ध इतनी विविधता के महत्व को अकसर पूरी तरह समझा नहीं जाता। उदाहरण के लिए, जब रुशदी की 'सैटैनिक वर्सिज' का विवाद अपने चरम पर था, तब इस लेख के लेखकों में से एक को कॉन्फ्रेंस दर कॉन्फ्रेंस तीसरी दुनिया के मुसलमान और गैर-मुसलमान रुशदी-आलोचकों को यह समझाना पड़ रहा था कि ठेस पहुंचाने वाली पुस्तक का लेखक उनकी संस्कृति के बाहर से - यानी हम में से - नहीं था। विवादित पुस्तक का, यह लेखक तो उनके साथ महत्वपूर्ण कौटुम्बिक और सांस्कृतिक संबंधों वाला व्यक्ति था।

दूसरी बात यह, कि एक किस्म की सामुदायिक सोच के बरअक्स - हालांकि लोगों के लिए अपने 'माता-पिता' के चरणों में बैठ कर (और इसलिए, अपने समुदायों से) आत्मसात किए गए मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना मुश्किल हो सकता है, लेकिन यह असंभव नहीं है- सैण्डल (1998)। यह तो सही है कि हम अपने सब मूल्यों पर एक ही समय पर सवाल नहीं उठा सकते, लेकिन एक-एक कर के उन पर सवाल उठाना तो मुमकिन है ही। और अपने आस-पास देखने पर- या शायद अपने भीतर देखने पर- हम जान जाते हैं कि जिन मूल्यों को बुनियादी मूल्य माना जाता है, उन्हें भी थोड़े प्रयास के साथ बदला जा सकता है। कैथलिक नास्तिक बन जाते हैं और इसके उलट भी होता है; शांतिवादी सैनिक और बुद्धिजीवी किसान बन जाते हैं- और सूची इसी तरह लम्बी हो सकती है। यह बात मैकइन्टायर जैसे समुदायवादी के लिए समझना आसान होना चाहिए क्योंकि वे बारी-बारी अनीश्वरवादी, मार्क्सवादी और कैथलिक बनते रहे हैं।

दुनिया के साथ सम्पर्क में आना हम में बदलाव लाता है और अकसर इस परिवर्तन के केन्द्र में हमारी शिक्षा होती है, शिक्षा वह परिवर्तन लाने में अहम भूमिका निभाती है। हमारी जानकारी में शिक्षा का कोई समुदायवादी सिद्धांत नहीं

है, लेकिन अगर ऐसा कोई सिद्धांत अस्तित्व में आ भी जाए तो हम किसी ऐसे तरीके की कल्पना नहीं कर सकते जिसके तहत वह शिक्षा की इस ताकत के लिए - यानी जीवन को, और इसके फलस्वरूप पहचान को, परिवर्तित करने के लिए- गुंजाइश निकाल पाए। समकालीन ब्रिटिश उच्च शिक्षा की एक बहुत ही उल्लेखनीय विशेषता है कि बहुत बड़ी संख्या में उसके शिक्षक, जो अपने पेशे की वजह से उच्च संस्कृति के आपूर्तिकर्ता हैं, ऐसी पृष्ठभूमियों से आते हैं जो, कम से कम संस्कृति के इस अर्थ में, सांस्कृतिक तौर पर दरिद्र रहीं। ये लोग 1944 के शिक्षा अधिनियम के लाभार्थी हैं जिसके तहत सैकेण्डरी स्कूलिंग को आवश्यक बना दिया गया और इस तरह ये लोग अपने परिवारों में विश्वविद्यालयी शिक्षा पाने वाली पहली पीढ़ी से हैं - और बहुत बार तो अपने समुदाय में ऐसे पहले व्यक्ति हैं। ऐसे लोगों की अनदेखी करने वाली शिक्षा की कोई भी उदारवादी नीति दोषपूर्ण होगी और ऐसे लोगों की संभावना को नकारने वाला कोई भी राजनैतिक सिद्धांत, गलत ही होगा। स्वायत्तता का निहितार्थ है लोगों में प्राप्त मूल्यों और नजरिए को तार्किक ढंग से मूल्यांकित कर पाने की क्षमता होना।

सामुदायिकतावाद की हमारी आखिरी आलोचना इस अध्याय की शुरुआत में उठाए गए कुछ बिन्दुओं से संबंधित है। सामुदायिकतावादी सोच व्यक्तियों को उनके सांस्कृतिक संदर्भ के अधीन कर देती है। इसका जोखिम यह है कि उनकी सांस्कृतिक पहचानें अनिवार्यता का मुद्दा बन जाती हैं, न कि ऐतिहासिक व्याख्या का - उनकी व्यक्त असहमति के बावजूद लोगों को बताया जाता है कि उन्हें क्या होना है। यह वयस्कों के संदर्भ में तो बुरा है ही क्योंकि वयस्क होते हुए वे स्वयं अपनी निर्ममता के खतरे का मूल्यांकन कर सकते हैं और अगर स्थितियां बहुत अधिक बिगड़ जाती हैं, तो कहीं और निकल सकते हैं। लेकिन इस तरह की अधीनता को जब बच्चों पर लागू किया जाता है तो वह उतना ही बुरा होता है - बल्कि अकसर अधिक प्रखन्न रूप से अनैतिक, कुटिल होता है। यह अधीनता उन्हें सांस्कृतिक पुनरोत्पादन के एक माध्यम के तौर पर काम में लेती है। बच्चा होने के कारण उन द्वारा ऐसी प्रक्रिया से सहमति या असहमति प्रकट न कर पाना इस बात को क्षमा योग्य नहीं बना देता। यह सही है कि मां-बाप और उनके समुदाय चाहते हैं कि बच्चे बड़े होकर एक विशेष तरह के वयस्क बनें। लेकिन शिक्षा की कोई भी उदारवादी प्रणाली जो इस संभावना के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ती कि बच्चे अपने माता-पिता की आशाओं और सपनों को अपनाने से खुद को बचा पाएं, उनके सपनों और आशाओं को अपने सपने और आशाएं न मानें, उदारवादी समाज के भीतर ऐसे बच्चों को हानि पहुंचाने के खतरे वाली बात है। इससे इंसानों के तौर पर उनके अधिकारों की अनदेखी का खतरा है और यह यांत्रिक सांस्कृतिक पुनरोत्पादन के संदिग्ध अधिकार के हक में जाता है। किसी भी सांस्कृतिक समूह के पास निरन्तर अस्तित्व में बने रहने का निरंकुश और दैवीय अधिकार नहीं है। ऐसा अस्तित्व ऐसे समूहों के वयस्कों के बीच परस्पर सहमति का मसला है। और इसका अर्थ है कि कोई भी सांस्कृतिक समूह असहमत वयस्कों और गैर-वयस्कों पर अपने विशेष मुद्दे के प्रसार के लिए अधिकारपूर्वक जबरन दबाव नहीं डाल सकता।

धार्मिक स्कूल

ऊपर चर्चा में आए कुछ मुख्य मुद्दे, चाहे छोटे स्तर पर ही सही, एक बार फिर से उभर आए हैं। यह ब्रिटेन में 'धार्मिक' स्कूलों के बारे में चर्चा के जरिए हुआ है। इस तरह के कई स्कूल हैं - अधिकतर चर्च ऑव इंग्लैण्ड के - और प्रत्येक स्कूल को राज्य से अत्यधिक वित्तीय सहायता मिलती है। एक समाज जिसमें एक धार्मिक समूह हो और धर्म के प्रति या तो उदासीन या उसके विरुद्ध बड़ी जनसंख्या हो, धार्मिक स्कूलों के खिलाफ उदारवादी पक्ष बहुत ही सरल होगा। एक लोकतांत्रिक उदारवादी राज्य को, जहां तक संभव है, अच्छे जीवन की प्रतिस्पर्धात्मक अवधारणाओं के प्रति तटस्थ रहना चाहिए। संभव है कि इस तरह की तटस्थता ऐसे राज्य के लिए राजकीय शिक्षा-व्यवस्था के बाहर धार्मिक स्कूलिंग के प्रति सहनशील होने की गुंजाइश छोड़े। लेकिन अगर वह राज्य उसी से वित्तीय सहायता-प्राप्त शिक्षा के भीतर इस तरह की स्कूलिंग को समर्थन देता है, तो समझें कि वह अब उदारवादी नहीं रह गया है। एक राज्य के लिए धर्म या धर्म-विशेष को समर्थन देने का अर्थ है तटस्थता और न्याय के विचारों के विरुद्ध जाना, जो कम से कम आंशिक तौर

पर तो उदारवाद का अंगभूत हिस्सा हैं। इस बात की रौशनी में देखें तो इंग्लैण्ड और वेल्स का राज्यधर्म तथा हमारे समाज में ईशानिन्दा के चुनिन्दा कानून उदारवाद के विरुद्ध बड़े अपराध हैं। ऊपर कल्पित समाज में राज्य द्वारा धार्मिक स्कूलों को वित्तीय सहायता दिया जाना ऐसे अपराधों के बराबर होगा।

यह मामला एक काफी हद तक धर्म-निरपेक्ष समाज में इससे भी कहीं अधिक पेचीदा हो जाता है जब कि ऐसे समाज में विभिन्न धर्मों (मसलन ईसाई धर्म, यहूदी धर्म और इस्लाम) से जुड़े महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक हों और राज्य सभी धार्मिक विश्वासों के विद्यालयों को समान रूप से वित्तीय सहायता देने को तैयार होता है। यहां बात इसके इर्द-गिर्द घूमती है कि वित्तीय सहायता के प्रस्ताव को किस तरह की पुष्टि के रूप में देखा जाता है - राज्य द्वारा स्वयं धर्म की, या फिर किन्हीं विशेष धर्मों की पुष्टि? एक ओर तो यह दावा किया जा सकता है कि अधिकतर स्कूलों की धर्म-निरपेक्ष प्रकृति से कम से कम यह तो प्रदर्शित होता है कि राज्य अच्छे जीवन के धर्म-निरपेक्ष नजरिए की निहित तौर पर पुष्टि करता है; और यह दावा भी, कि सभी धर्मों के प्रति मुक्तहस्त होने का अर्थ है कि राज्य उदारवादी होने के लिए आवश्यक तटस्थता को बनाए हुए है। दूसरी ओर यह तर्क दिया जा सकता है कि एक उदारवादी समाज में आशा की ही जा सकती है कि अधिकतर स्कूल धर्म-निरपेक्ष प्रकृति के होंगे क्योंकि यह ऐसे समाज से अपेक्षित तटस्थता की ही अभिव्यक्ति है। इसलिए धार्मिक स्कूलों के लिए वित्तीय मदद का प्रस्ताव, फिर वह चाहे कितना ही संतुलित क्यों न हो, इस तटस्थता से विचलन होगा। धर्म-निरपेक्ष बहुसंख्या को यह वित्तीय मदद निश्चित तौर पर अखर सकती है, और धार्मिक स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए यह मदद, राज्य द्वारा वित्तीय सहायता के समर्थन की तरह दिखाई दे सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि धार्मिक स्कूल बांटने का, विभाजित करने का, काम करते हैं और इसलिए एक उदारवादी राजनैतिक व्यवस्था में इन्हें वित्तीय सहायता नहीं मिलनी चाहिए जबकि ऐसी व्यवस्था के केन्द्रीय उद्देश्यों में से एक उन बातों पर बल देना है जो समाज को एक करके रखने में मददगार होती हैं न कि उन पर जो उसे बांट सकती हैं। इस लेख के लेखक इस बात पर सहमत नहीं हो पा रहे कि इनमें से कौन सी दलील विश्वसनीय है। हम इसके समानान्तर एक उदाहरण लें तो पाठक को अपना मन बनाने में शायद मदद मिले : किसी भी उदारवादी समाज में मौजूद राजनैतिक दलों में से किसी को भी वित्तीय सहायता देना गलत होगा। अगर राज्य वित्तीय तौर पर व्यवहार्य सभी राजनैतिक दलों को सहायता देने को तैयार हो जाता है, तो क्या यह गलती गायब हो जाएगी?

इस सवाल का जवाब चाहे कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि धार्मिक स्कूलों के बचाव में दी जाने वाली कुछ दलीलों से तो प्रासंगिक सवालों के जवाब देने की शुरुआत भर भी नहीं होती। उदाहरण के लिए, इस संदर्भ में, यह दलील ही काफी नहीं होगी कि ऐसे स्कूल सार्वजनिक परीक्षाओं में अपने विद्यार्थियों के हित में काम करते हैं। अगर यह प्रदर्शित किया जा सके - और हमारे खयाल से यह नहीं ही किया जा सकता- कि ऐसे स्कूल अपने बराबर के गैर-धार्मिक स्कूलों से कहीं अधिक बेहतर प्रदर्शन करते हैं, तब शायद सामाजिक लाभ के संदर्भ में इस तरह के स्कूलों के पक्ष और बचाव में आया जा सके। लेकिन यह बात केवल किसी बहुत अच्छे प्रदर्शन वाले धार्मिक स्कूल के मुकाबले उसके पास के ही किसी गैर-धार्मिक, गैर-चुनिन्दा स्कूल की ही नहीं, बल्कि सामान्य तौर पर गैर-धार्मिक स्कूलों की होना होगी। और ऐसा उदाहरण हो भी तो वह ऊपर उठाई गई उदारवादी शंकाओं से अपने आप छुटकारा नहीं दिलवा देगा।

धार्मिक स्कूलों पर एक अप्रकाशित मोनोग्राफ, के लेखकों मक्लॉफ्लिन तथा हाल्स्टेड के मुताबिक इस बात का कोई तार्किक कारण नहीं है कि धार्मिक स्कूलों के भीतर पाठ्यचर्या और उसे चलाने वाले शिक्षक उदारवादी शिक्षा के विचार द्वारा अपेक्षित तटस्थता के पैमानों को पूरा न कर पाएं। और निश्चित ही है कि यह तार्किक तौर पर असंभव बात नहीं है। लेकिन यह तार्किक सम्भावना उन कई बिन्दुओं को शांत नहीं करती जो दलील के लिए अत्यन्त प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। सर्वप्रथम, राज्य इस तरह की तटस्थता उन संस्थाओं या संस्थाओं के भीतर लोगों के जिम्मे क्यों लगाए, जो स्वभावतः आम तौर पर तटस्थ नहीं होते। उदाहरण के लिए, बेशक, इस बात की तार्किक सम्भावना मौजूद है कि एक जाना-माना टॉटनहम हॉटस्पर खिलाड़ी, जो मान लीजिए कि पहली टीम का सदस्य था और जिसे मामूली चोट आई

हुई है, आर्नल के खिलाफ उनके अगले खेल में, तटस्थ रह कर रेफरी का काम कर सकता है। यह तार्किक तौर पर तो संभव है लेकिन कोई भी आर्नल समर्थक या जनता का तटस्थ सदस्य ऐसी स्थिति से खुश नहीं होगा। दूसरा, अगर धार्मिक स्कूलों के भीतर शिक्षा के तौर-तरीकों और विषयवस्तु को, मक्लॉप्लिन तथा हाल्लस्टेड द्वारा सुझाए गए तरीके से तटस्थ ही होना है तो संबद्ध धर्म के नजरिए से देखने पर लगेगा कि धार्मिक स्कूलों की तुक ही क्या है? या तो इस तरह के स्कूल किसी धर्म-विशेष को आगे बढ़ाने के लिए कुछ करें ही नहीं - मगर ऐसे में उस धर्म द्वारा उन्हें कुछ भी वित्तीय सहायता देने का कोई विशेष कारण नहीं दिखाई देता। या फिर वे कुछ करें, जिस सूरत में वे उदारवादी तटस्थता के विरुद्ध जाते हैं। अगर इसका जवाब यह है कि चर्च केवल दयालुता के नजरिए से स्वयं को शिक्षा से होने वाली अच्छाई के साथ संबद्ध करना चाहते हैं तो सुझाया जा सकता है कि ऐसा तो धार्मिक स्कूलों के बिना भी किया जा सकता है।

विल किम्लिका (1995 अ) उदारवाद और उसके आलोचकों पर सबसे संवेदनशील और दूरदर्शी टिप्पणीकारों में से एक हैं। इसलिए धार्मिक स्कूलों पर चलने वाले विमर्श में उनके काम का इस्तेमाल होते देखना अच्छा लगता है हालांकि, जैसा कि हम तर्क देंगे, इस तरह के काम के निहितार्थ का गलत अर्थ लगा लिया जाता है। 'व्हाइ शुड स्टेट्स फण्ड डिनॉमिनेशनल स्कूल्स?' में डे जोंग एवं स्निक (2002) किम्लिका का प्रयोग करते हुए यह प्रदर्शित करने की कोशिश करते हैं कि धार्मिक स्कूलों के समर्थकों और उनके आलोचकों के बीच समझौता संभव है। इसके लिए वे किम्लिका के इस बिन्दु को प्रयोग में लेते हैं कि स्वाधीनता एक उदारवादी समाज में आदर पाने योग्य बुनियादी चीजों या विशेषताओं में से एक है और इसके साथ-साथ सांस्कृतिक सदस्यता भी इन्हीं में से एक है। ऐसी बुनियादी विशेषताएं उन मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं जिन्हें ऐसे समाज के किसी भी सदस्य द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए, बावजूद इसके कि अच्छे जीवन की उनकी अवधारणाएं अलग-अलग हो सकती हैं। गौण चीजें या विशेषताएं वे हैं जो इन विभिन्न अवधारणाओं से पाई जाती हैं। डे जोंग और स्निक के मुताबिक अगर हम स्वायत्तता के साथ-साथ सांस्कृतिक सदस्यता को एक बुनियादी चीज मानते हैं, तो हम विशेष सांस्कृतिक समूहों के मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाले प्राइमरी स्कूलों की वित्तीय सहायता कर सकते हैं जब कि हमारे सैकेण्डरी स्कूल स्वायत्तता के मूल्य को समर्पित होंगे।

क्यों यह सोचा जा सकता है कि किम्लिका का सुझाव ऐसे समझौते का समर्थन करता है, यह तो दिखाई दे ही रहा है। लेकिन हमारे विचार में यह व्याख्या सही नहीं है। क्योंकि अगर, जैसा कि दावा किया जाता है, सांस्कृतिक सदस्यता एक बुनियादी चीज है, तो भी इसका यह अर्थ नहीं है कि इसे एक उदारवादी राज्य की शैक्षिक व्यवस्थाओं में होना ही होगा। इस तरह के राज्य को ऐसी सदस्यता का आदर करना चाहिए और इस तरह के आदर का अर्थ है कि, बाकी सब बातों के समान होते हुए, राज्य लोगों को इस मौके से वंचित न रखे कि वे ऐसी सदस्यता ले पाएं। उदाहरण के लिए, यह नहीं होना चाहिए, जैसा कि भूतकाल में अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में हुआ है, कि सांस्कृतिक समूहों की भाषा को दबाया जाए या सांस्कृतिक समूहों के बच्चों को हटा लिया जाए ताकि वे प्रभुत्वशाली संस्कृति के लोगों के बीच बड़े हों। ऐसी प्रथाएं उसी तरह तटस्थ राज्य की उदारवादी धारणाओं के विरुद्ध जाती हैं जैसे कि विशेष समूहों को दी जाने वाली सक्रिय सहायता उनके विरुद्ध जाएगी।

लेकिन हस्तक्षेप न किए जाने के कर्तव्यों के अलावा अधिक कुछ हो नहीं पाता है। जैसा कि समुदायवादियों ने बल दिया है, किसी विशेष सांस्कृतिक समूह की सदस्यता तो हमें पहले से ही प्राप्त है- यानी हम ऐसे समूह में पैदा हुए और पले-बढ़े हैं - और इस अवस्था में उसे राज्य की सहायता की जरूरत नहीं है। स्वायत्तता के पोषण को हम राजकीय शिक्षा के उद्देश्य के रूप में देखते हैं, और इसमें स्वभावतः यह संभावना शामिल होनी चाहिए कि स्वायत्त व्यक्ति ऐसे समूह की गैर-आलोचनात्मक सदस्यता की ओर लौटने का चुनाव कर सके। कोई भी विवेकशील राज्य अपने परिपक्व नागरिकों से यह मांग नहीं कर सकता कि वे ऐसी सदस्यता से परहेज करें। लेकिन, इसके चलते राज्य की ओर से शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता का कोई एक विशेष पैटर्न नहीं होगा।

किम्बिका (1995 ब, अध्याय 7) सांस्कृतिक संरचना में भाषा के महत्व से संबंधित कुछ बातें दर्ज करते हैं जिनका अर्थ यह निकल सकता है कि राज्य की शिक्षा व्यवस्था को कम से कम कुछ स्तरों पर मातृभाषा-शिक्षण के लिए प्रावधान रखना चाहिए। यह भी कहा जा सकता है कि एक बहुसांस्कृतिक और बहुभाषीय समाज में हमें ध्यानपूर्वक देखना होगा कि द्वितीय भाषा के शिक्षण के साथ और कौनसी भाषाएं हमारे सामने हैं। उदाहरण के लिए, क्या ब्रैडफर्ड तथा लीसेस्टर के गोरे बच्चों के लिए भारतीय उपमहाद्वीप की कुछ भाषाएं प्रस्तावित करने की मजबूत दलील नहीं दी जा सकती? लेकिन इनमें से किसी भी सुझाव का यह अर्थ नहीं है कि राज्य को बच्चे के स्कूली जीवन के पहले छः सालों के लिए उस बच्चे के सांस्कृतिक समूह के विशेष मूल्यों का समर्थन करना चाहिए।

हमने तर्क रखा है कि किसी भी उदारवादी समाज में शिक्षा को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी ही होगी। इतनी महत्वपूर्ण, कि शैक्षिक पहलकदमियों के लिए किसी भी सुझाव को हमेशा बहुत ही ध्यान से और समालोचनात्मक भावना के साथ लिया जाना होगा। अगर एक उदारवादी समाज का अस्तित्व महत्व रखता है- और यह तो है ही- तो ऐसे समाज के भीतर शिक्षा का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष

हमारा मानना है कि पश्चिमी दुनिया में हमारे तरह के समाजों के लिए लोकतांत्रिक उदारवाद अकेला स्वीकार्य राजनैतिक सिद्धांत है। इस तरह के उदारवाद की कुछ समस्याएं हैं लेकिन इन समस्याओं की वजह से हमें अधिकतर प्रस्तावित विकल्पों की अस्वीकार्य प्रकृति के प्रति अन्धा नहीं हो जाना चाहिए। यदि इस तरह के उदारवादी समाजों को स्वयं को जिन्दा रखना है तो उदारवादियों को ऐसे समाजों में शिक्षा की भूमिका को गंभीरता से लेना होगा। यदि इस भूमिका को बहुत कमजोर बना दिया जाता है, जैसा कि हम ने तर्क दिया है कि रॉल्स द्वारा किया जाता है, तो बहुत ही कम समय में उदारवाद अनुदारवाद के किसी न किसी विकल्प में ढेर हो सकता है। लेकिन अगर इसे बहुत सघन कर दिया जाता है तो हमारे सामने लोकतांत्रिक सम्मति पाने की समस्या आएगी। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा की संतोषजनक अवधारणा के पक्ष में बहस की जाए न कि यह मान लिया जाए कि समस्या को अनुबंध द्वारा, आवश्यक शर्त के तहत, हल किया जा सकता है। ♦

(यह लेख क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल की किताब 'Philosophy & Educational Policy A Critical Introduction' से लिया गया है।)

क्रिस्टोफर विंच: इंग्लैण्ड के जाने-माने समकालीन शिक्षा दार्शनिक और किंग्स कॉलेज, लंदन में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर।

जॉन गिंगेल: यूनिवर्सिटी कॉलेज नॉर्थम्पटन में दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष हैं।



अन्तिम आवरण के चित्र...

आखिरी पन्ने पर दिए गए तीनों चित्र जयपुर शहर की एक हाल ही में बसी कॉलोनी की एक गली में रहने वाले तीन बच्चों ने बनाए हैं। उनके नाम अंशुल, कुणाल और टियां उर्फ काश्वी है। दो चित्रों में आप आपसी दोस्ती की झलक पा सकते हैं और तीसरे में अकेलेपन की। ♦